ज़िन्दगी का सिस्टम

लेखक : आयतुल्लाहिल उज़मा सय्यदुल उलमा मौलाना सै0 अली नक़ी नक़वी
सम्पादन : नूरे हिदायत फ़ाउण्डेशन

(क़िस्त : 22)

दूसरी सूरत यह है कि गिनती निश्चित होती मगर 'कैसे' निश्चित न होता। इसमें गिनती से फ़र्ज़ कर्त्तव्य का एहसास पैदा होता मगर तरीक़ा न होने की वजह से डिसिप्लिन (Discipline) भी नहीं और लोगों में एकरूपता भी नहीं, क्यों कि कोई एक साथ रख रहा है कोइ अलग–अलग, कोई एक वक़्त में तो कोई दूसरे वक़्त में।

तीसरी सूरत यह कि तरीक़ा निश्चित होता मगर महीना निश्चित न होता, इसमें भी वहीं दोनों बातें हैं कि न सिस्टम (System) है और न ही लोगों में एकरंगी व एकरूपता क्योंकि सब 30 दिन के रोज़े तो रख रहे हैं, लेकिन कोई शाबान में, कोई शव्वाल (ईद के महीने) में और कोई किसी और महीने में।

इसमें वह एकजुटता (Collectiveness) कहाँ जो अब रमज़ान महीने में पैदा हो जाया करती है।

यह मसल मशहूर है "मर्गे अंबोह जश्ने दारद" (भीड़ का मरना भी त्योहार जैसे है।)

इस एकजुटता की वजह से रोज़े का फ़र्ज़ भाता न होते हुए भी अच्छा लगने लगता है क्योंकि सब एक रंग में हैं, बल्कि रोज़ा छोड़ना बुरा लगता है और किसी दूसरे महीने में जो क़ज़ा (छुटे हुए) वग़ैरह का रोज़ा रखा जाता है वह जी पर इतना भारी पड़ता है जिसको रखने वालों का दिल ही जानता है। सिर्फ़ इस अलगाव और परेशानी की वजह से जो अकेले रखने की वजह से पैदा होती है।

अब इस सवाल पर नज़र डालिए जो एतराज़ के तौर पर आपके सामने पेश है। वह यह है कि – "मै मानता हूँ कि रोज़ा माद्दी नज़रिए से भी फ़ाएदेमंद है और Nature के लेहाज़ से भी, लेकिन एक महीने के रोज़े का तुक समझ में नहीं आता। अगर हफ़्तें में एक दिन का रोज़ा हो तो इन्सान आसानी से अपने रोज का कारोबार चालू रख सकता है क्योंकि एक दिन का रोज़ा तो हमारे ख़ून की सफ़ाई, मेदे जिगर का सुधार कर सकता है लेकिन एक महीने का लगातार रोज़ा हमको दिमाग़ी और जिसमानी तौर पर कमज़ोर कर देता है।"

यह एक चौथी सूरत है जो पेश की गई है और यह उन सारी ख़राबियों से अलग है जो पहले बयान की गई है यानि इसमें फ़र्ज़ का एहसास भी बाक़ी रहता है और नेज़ाम भी और इसमें एकरंगी और एकरूपता भी, लेकिन इसमें एक बहुत बड़ी ख़राबी है और वह यह है कि हर वह चीज़ जो क़रीबी वक़्त में बार–बार पलट कर आए और वापस होती रहे तो जी/तबियत उसकी आदी (Habitual) हो जाती है और फिर उस का वह असर नहीं होता जो चाहिए। अगर हफ़्ते में एक बार रोज़े का हुक्म दिया जाता तो शुरू में कुछ दिन तो इससे ख़ून और मेदे और सिस्टम में सुधार होता लेकिन कुछ दिन के बाद जब तबियत उसकी आदी हो जाती तो वह फिर उन मक़सद के लिए बेकार साबित होने लगता। अब ज़रूरत होती हफ़्ते में दो दिन फ़ाक़ा करने की और इसी तरह इसमें बढ़ोत्तरी होती रहती। यहाँ तक कि इन्सान अपने मेदे की ख़राबी की वजह से परेशान हो जाता। लेकिन वक़्त के चलते और लम्बी मुद्दत (अवधि के साथ अगर बार बार हो तो वक़्त लम्बा होने की वजह से तबियत से पहला असर चला जाता है, इसलिए दोबारा फिर वैसा ही असर होता है जैसा पहले होता था। ग्यारह महीने का काम हुआ, अब मेदा एक महीने तक राहत लेता है और इसी से काम कर लिया जाता है तो उसे एक नई ज़िन्दगी और रूह मिल जाती है और इससे जिस्म के नेज़ाम पर ऐसा अच्छा असर पड़ता है जैसे नए सिरे से यह शुरू हो जाता है। इसके इलावा रोज़े के जो रूहानी फ़ाएदे हैं वह भी इस बात से नहीं मिल सकते क्यों कि हर हफ़्ते में एक

बार इसके आदी हो जाने के बाद तबियत उसमें कोई नागवारी महसूस नहीं करेगी और वह एतवार या जुमे की छुट्टी की तरह हर हफ़्ते में एक रस्मी चीज़ बन जाएगी। इसके अलावा यह मानने की सूरत में कि रोज़े से इन्सान के कारोबार और दिमाग़ी कामों में कमी हो जाती है, ऐसे में इस कमी की भरपाई ग्यारह महीने की लगातार संघर्ष से हो सकती है लेकिन अगर हर हफ़्ते में एक दिन भूखा प्यासा रहने को कहा गया होता जैसा कि कहा जा रहा है, तो फिर यह कोई काम जम कर न कर सकता।

सेहत (Health) की हिफ़ाज़त के नज़रिए से रोज़े पर चर्चा

कहा जाता है कि रोज़े से हमारे अन्दर कमज़ोरी बढ़ जाती है, जिसकी वजह से हम हर वक़्त तरह–तरह के बीमारियों के जरासीम (Germs) लेने के लिए तैयार रहते हैं, क्योंकि डॉक्टरों की राय में इन्सान की बीमारी उतनी ख़तरनाक नहीं जितनी उसकी कमज़ोरी। इसलिए एक महीने के लगातार रोज़े डॉक्टरी नज़रिए से भी नुकसान वाले हैं।

मगर क्या ये सही है? याद रखिए कि मुशाहेदा (Observation) सबसे बड़ी दलील प्रमाण है, मुशाहेदे से साबित हुआ है और आज की रिसर्च ने मान लिया है कि सबसे ज़्यादा उम्र रूहानी तबक़े (वर्ग) यानि मज़्हब के ओलेमा की होती है जब कि ये लोग ज़्यादातर उन बातों के पाबन्द होते हैं जो जिस्मानी हैसियत से कमज़ोरी की वजह होती है। अक्सर वह लोग जिन की उम्र रोज़ों में गुज़रती है वह उन लोगों से ज़्यादा ज़िन्दा रहते हैं और ज़्यादा ज़ेहनी और अ़मली असर छोड़ जाते हैं जो रोज़े के पाबन्द नहीं हैं, या जिन्होने कभी रोज़ा रखा ही नहीं।

एक़्तेसादी (Economic) नज़रिए से रोज़े पर चर्चा

ये भी कहा जाता है कि Economic नज़रिए से भी रोज़ों से मुसलमानों को नुक़सान पहुँचता है। क्यों कि मुसलमान रमज़ान में जिस बुरी तरह चीज़ों का बेजा इस्तेमाल करते हें वह बयान से बाहर है मगर ये ख़्याल बिल्कुल ग़लत है। हक़ीक़त तो ये है कि रोज़ा Economic हैसियत से उन लोगों के लिए दिन की आमदनी उनके रोज़मर्रा ख़र्च के बराबर है। ये बचत करने का ज़रिया है मगर मुश्किल ये है कि मुसलमानों में Economic समझ पैदा ही नहीं हुई है। ये तो रूपया ख़र्च करने के बहाने ढूँढ़ते हैं इसलिए कोई चीज़ कितनी ही उनके लिए Economic तौर पर फ़ायदे वाली हो वह भी उनकी ज़ेहनियत की बदौलत Economic हैसियत से नुक़सान देने वाली हो जाती है। उसमें अस्ल उस चीज़ का दोष नहीं बल्कि इनकी ग़लत ज़ेहनियत और काम के ग़लत तरीक़े का दोष है। कहा जाता है कि मुसलमान इस काम के लिए मजबूर हैं क्यों कि ऐसा न करें तो उनकी सेहत बाक़ी नहीं रह सकती। बदक़िस्मती से ये भी ग़लत है। मुसलमानों का बेजा ख़र्च अपनी तनदुरस्ती (Health) के लिए नहीं होता बल्कि अकसर ऐसे खानों का इस्तेमाल किया जाता है जो सेहत के लिए नुक़सान वाली होती है बल्कि अफ़तारी में अलग–अलग तरह की चीज़ों का इस्तेमाल और एक के बाद दूसरी चीज़ खाते चले जाना यानि भरे पर भरना और बैलेंस से काम न लेना। ये वह सब चीज़ें हैं जिनसे बीमारी पैदा होती है। शरीयत ने तो बड़ी सादी चीज़ें अफ़तार के लिए बताई हैं जैसे गरम या ताज़ा पानी मगर यहॉ अफ़तार में जब तक पाँच या दस चीज़ें न हो तब तक रोज़ा खुलता ही नहीं। ये कोई सही तरीक़ा नहीं हैं। आपके सामने दीन के रहनुमां खुलता हज़रत अमीरूलमोमनीन अ0 की अफ़तारी का सामान है जिसे जनाब उम्मे कुलसूम ने बयान फ़रमाया है, उस आख़री रोज़े के बारे में जिसके बाद हज़रत अ0 को शायद किसी दूसरी अफ़तार का मौक़ा नहीं मिला, ये वह महीना था जिसमें हज़रत अ0 ने शहादत पायी, इसमें हज़रत अ0 ने अपना ये तरीक़ा रखा था कि बारी–बारी एक दिन हज़रत इमाम हसन अ0 और एक दिन हज़रत इमाम हुसैन अ0 और एक दिन अब्दुल्लाह बिन जाफ़र अ0 के यहॉ अफ़तार करते थे, आख़िरी दिन जिसके बाद आप अ0 के मुबारक सर पर तलवार लगी उस दिन आप अ0 हज़रत उम्मे कुलसूम के मेहमान थे। मेरा ख़्याल है कि यह हज़रत ज़ैनब की बात हैं जो अब्दुल्लाह बिन जाफ़र से बियाही थी, बहरहाल अफ़तार के वक़्त जनाब उम्मे कुलसूम ने एक थाली में रोटी, नमक और प्याला दूध का सामने रखा। बस यही अफ़तार था दीन और दुनिया के बादशाह का। हज़रत अ0 ने इसको भी मन्जूर न किया और उम्मे कुलसूम को हुक्म दिया कि दूध का प्याला हटा लें, सिर्फ़ नमक से आप अ0 ने रोटी के कुछ लुक़में (कौर) खाये। यह कहने का ये मतलब नहीं कि मुसलमान बिल्कुल इसी पर चलें करें और हक़ीकी माने में नमक और रोटी ही खायें मगर इस मिसाल से कुछ तो सबक़ ले और जहां तक हो सादा और ज़रूरत भर खाएं। ये कहना कि

" नफ़सियाती Psychological हैसियत से वह माफ़ी के क़ाबिल हैं क्योंकि दिन भर के खाली पेट रहने के बाद इन्सान का जी तबियत यूं भी कुछ अच्छी गिज़ा खाने को चाहता है।" ये यूं भी" कोई चीज़ नहीं है। सच्चाई ये है कि इन्सान के इस तरह नफ़सीयात की बनावट उसकी आदतों और ज़ेहनियत के ज़रिये से होती है। अगर मुसलमानों को सेहत की हिफ़ाज़त एक़्तेसादी हैसियत (Economic Position) और किफ़ायत कम खर्च से काम लेने की बात पैदा हो जाए तो फिर दिल यही चाहने लगे कि इस वक़्त दो चीज़ों के बजाए एक ही चीज़ खायें और बिलावजह ज़रूरत से ज़्यादा ख़र्च न करें। मगर इनकी हर बात फ़िज़ूलख़र्ची पर निर्भर है, क्योंकि जैसे लिबास में शान पायी जाती है वैसे ही खाने के मामले में "चटोरापन" । इसमें दुनिया की खींचतानी बहुत हद तक कमी पैदा कर चुकी है और जितनी बात बॉक़ी है उसमें यूं ही और कमी पैदा होगी। मजबूरियॉ खुद कम करा देगीं। फिर "यूं ही" रखा रह जायेगा और उस वक़्त रोज़े का एक़्तेसादी (Economic) मक़सद समझ में आयेगा।

सब इबादतों में रोज़े की बड़ाई व खासियत

सारी इबादतों में रोज़े को ख़ास अहमियत मिली है। "हदीसे कुदसी"[(1)] में आया है *"अस्सौम ली व अना अजज़ी बिह"* "रोज़ा मुझसे खास है और मैं इसकी जज़ा दूंगा।" सामने की बात है कि हर इबादत खुदा ही के लिये होती है मगर जितनी इबादतें हैं उनमें दिखावे की गुन्जाइश हो सकती है यानी कभी वह दूसरों को दिखाने या सुनाने के लिये हो जाती हैं। मगर रोज़ा अगर होगा तो वह खुदा के लिये ही होगा इसलिये कि इसमें न दिखाने की कोई चीज़ है न सुनाने की।

इसमें कोई चाल नहीं जो देखने में आये, कोई आवाज़ नहीं जो सुनाने में आये वह तो कुछ ख़ास चीज़ों के छोड़ने का नाम है और किसी चीज़ को छोड़ना दिखाने की कोई चीज़ नहीं होती। इसका नतिजा है जो कहा गया है *"अजज़ी बिह"* 'मैं इसका बदला दूंगा।' हर इबादत का बदला वही देता है मगर दूसरी इबादतों की ज़ाहिरी सूरत का बदला दुसरे से भी मिल सकता है। मिसाल के तौर पर कोई अमीर किसी आदमी को तैयार करे कि तुम मेरे बच्चों के सामने नमाज़ पढ़ा करो ताकि उन्हें नमाज़ पढ़ना आ जाये, इस सूरत मे तुमको इतना–इतना मुआवज़ा (कुछ पैसा या बदला) दूंगा मगर रोज़ा ऐसी चीज़ नही है जिसका बदला कोई और दे सके, वह अगर होगा तो खुदा ही के लिये होगा और वही इसका बदला देगा।

रह गये वह रोज़े जो किसी का नायब (बदले में बन कर रखे जाते हैं और इनमें मज़दूरी (कुछ पैसा आदि) ली जाती है। वहाँ अुजरत (ली गयी रक़म) का ताल्लुक़ नयाबत (नायब बनने) से है और उस रोज़े का ताल्लुक़ उस आदमी की इबादत से है जिसके वह रोज़े है। इसलिये उस रोज़े का सवाब उसी षख़्स को मिलेगा जिसकी तरफ़ से वह रोज़े रखे गये हैं और इस सबाब का देने वाला ख़ुदा ही है।

रोज़ा तोड़ने वाली चीज़ें

रोज़े की यह खास बात है कि जितने भी शरीयत के हुक्म हैं इनको पूरा करने में किसी एक जज़्बे (सन की चाह) से मुकाबला होता है मगर रोज़े में बहुत से मन में जज़्बात का मुक़ाबला एक ही साथ करना पड़ता है। नीचे कुछ चीज़ें दी जा रही हैं जिनको छोड़ना रोज़े में ज़रूरी है। आप ग़ौर कीजिए कि इनमें से अक्सर चीज़ें इन्सान की आम ज़िन्दगी में किस तरह घुली मिली हैं। और इन्सान की ये चाह फ़ितरत (Nature) किस हद तक कड़ी हैं।

1. जानबूझकर खाना– पीना इन्सान को यूं चाहे भूख न लगे मगर किसी के रोक देने पर तो ज़रूर ख़्वाहिश होती है और प्यास, इसे तो पूछिये मत, ख़ास कर गर्मी के दिनों में, लू और धूप में, इसलिये कहा गया है कि " *अस्सौम फ़िल हरि जिहाद*" गर्मी में रोज़ा रखना एक बड़ा जेहाद (संग्राम/संघर्ष) है। बेशक जाड़ों में, यानि बे लड़े–भिड़े का माल ग़नीमत (Booty/जंग जीती तो दुश्मन का माल मिलता है) है।

2. जानबूझकर अपने आप को जनाबत (नजासत) में डालना चाहे जैसे हो, ज़ाहिर है कि इससे बचने के लिए बहुत से वक़्त मन पर बड़ा जब्र करना पड़ेगा बल्कि कभी–कभी किसी का निगाह उठा कर ग़ौर के साथ देखने तक से चाहे अपनी ज़ौजा (बीबी) तक से, क्यों न बचना पड़े।

3. रात को अगर जान बूझकर या अपने आप ही ऐसा हो जाए तो फिर सुबह से पहले ही गुस्ल करना वाजिब (ज़रूरी) है और इसी हालत पर बाक़ी रहना रोज़े को तोड़ देता है। यानि उस दिन का रोज़ा

(1) रसूलस० की ज़बान से खुदा की बात

सही नहीं होगा। अब कुछ न पूछिये, इस मन के जब्र को जो ऐसे वक़्त में जबकि मौज मस्ती और उमंगें अपनी जवानी पर है और दिल में मस्ती और उमंगों की घटा छाई हुई है और मुअज़्ज़िन की अज़ान का धड़का अपने फ़र्ज़ (Duty) की पहचान रखने वाला एक आदमी इस जोश और उमंगों के मिटाने पर अपने आप को मजबूर करता है और ले जाता है गुस्ल करने पर या फिर अगर गुस्ल न करने पर मजबूर है तो तयम्मुम करने का फ़र्ज़ पूरा करने की तरफ़। अगर सोने में ऐसी बात हो तो ऑख खुली और उठना ज़रूरी। ये नींद का बेचैन करना भी नींद की मतवाली तबियतों के लिये बड़ा ही जेहाद है।

4. धूल को हलक़ से नीचे उतरने देना।

5. जनबूझकर उल्टी (कै़) करना कमी–कमी इसका रोकना भी तबियत की ख़राबी की वजह हो सकता है।

6. किसी बहने वाली चीज़ (Liquid / द्रव) के साथ–एनीमा लेना अगर डाक्टरी लेहाज़ से ज़रूरी नहीं हो गया है, और अगर सिर्फ़ इसके छोड़ने में कुछ जिस्मानी तकलीफ़ या दर्द वग़ैरह की तकलीफ़ ही सहना है तो इसको सहे और इस काम को न करें।

7. सर को अन्दर ले जाकर डुबोना। इसका मोल गर्मी के ज़माने में रोज़े की हालत में साफ़ ठण्डे हौज़ में उतरने वालों से पूछिए जिनका दिल पानी को देखकर लहरें लेने लगा हो और फ़ौरन दिल चाहता हो कि एक डुबकी लगा लें। मगर हुक्म की पाबन्दी सामने आकर खड़ी हो जाती है।

8. ख़ुदा और रसूल ''स'' और मासूम इमामों अलैहिस्सलाम पर झूठ बान्धना (तोहमत), यानी किसी बात या काम को इन में से किसी बुज़ुर्ग की तरफ़ ग़लत तौर पर (लान्छन) लगाना।

इसका असर ज़्यादा तर तकरीर करने वालों और ज़ाकेरीन पर पड़ता है। रोज़े की मजलिस एक तो यूं ही नहीं चलती, उधर ज़बान सूखी और होठों पर पपाड़ियॉ पड़ी हुई, ताक़त साथ नहीं देती। इधर सुनने वाले नींद के झोंके में मूर्ति बने ख़ामोशी से सुन रहे हैं और कोई असर नहीं लेते। ज़ेहन में एक टुकड़ा मौजूद है। अगर रिवायत में लगायें तो मजलिस में गर्मी पैदा हो जाने की उम्मीद है मगर मालूम है कि इसकी कोई असलियत नहीं। और अगर कहीं ये ग़लत रिवायत बयान की और ''इमामों'' की तरफ़ किसी बात लगा दी जो सही नहीं हुई तो मजलिस मालूम नहीं फिर भी चले या न चले लेकिन रोज़ा ज़रूर चला जायेगा। अब चाहे मिम्बर पर से सादगी से उतरना हो, लेकिन ब्यान उतना ही कीजिए जितना आपके नज़दीक सही है।



(पेज नं0 10 का बक़िया.................)

24. क़िदवाई, वूमेन, पृ0 46
25. कुर्आन : 49 : 1
26. कुर्आन : 49 : 13
27. कुर्आन : 3 : 195
28. कुर्आन : 4 : 32
29. कुर्आन : 5 : 38
30. कुर्आन : 24 : 2
31. कुर्आन : 33 : 35
32. जावेद बाहुनर, अत्तौहीद (तेहरान, 1984) 1–169
33. द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात, 1948 ई0 में घोषित हुआ।
34. तबातबाई, महजूबा, 11, नं0 5, पृ0 6
35. मुतह्हरी राइट आफ वूमेन इन इस्लाम, पृ0 35
36. बाहोनर, अलतौहीद (ईरान) 1–165
37. कुर्आन : 36 : 40
38. एस0 एम0 इक़बाल, सिक्स लेक्चर्स, पृ0 236
39. मुतह्हरी, राइट आफ वूमेन इन इस्लाम, पृ0 247
40. 2 : 187
41. मौदूदी, हुक़ूक़ुज़्ज़ौजैन, पृ0 19
42. मुतह्हरी राइट आफ़वूमेन इन इस्लाम् पृ0 297
43. मुतह्हरी, राइट आफ वूमेन इन इस्लाम, पृ0 298
44. देखिए के0 ए0 सय्यद हुसैन, इजतिहाद–दि बीटिंग हार्ट आफ शरीअः, लाइयर (मद्रास, 1981)
45. 2 : 229
46. 2 : 231
47. किताब अल ख़िलाफ फ़िल फ़िकह, 11–185
48. 4 : 35
49. 4 : 39
50. मुतह्हरी, राइट आफ़ वूमेन इन इस्लाम, पृ0 395
51. स्प्रिट आफ़ इस्लाम, पृ0 230
52. किताबुल काफ़ी वी0 566
53. मुतह्हरी राइट आफ़ वूमेन इन इस्लाम पृ0 399
54. महजूबा (तेहरान) 11, नं0 5, पृ0 4
55. क्या यह समाज की उन्नति है कि पुरूष के पास काम नहीं है वह बेकार है और स्त्री की गोद में बच्चा नहीं है अर्थात उसकी मातृत्व की भावना ख़त्म कर दी गयी है।

